

ताकि खेती की विविधता बनी रहे

■ रमेश कुमार दुबे

आज कृषि क्षेत्र की बहुराष्ट्रीय कंपनियों खेती के मूल आधार (बीज) पर कब्जा जमा कर अपनी तिजोरी भरने में जुटी हैं। इससे न सिर्फ कृषि जैव विविधता खतरे में पड़ती जा रही है बल्कि वैश्विक खाद्यतंत्र के कुछेक हाथों में सिमट जाने का खतरा पैदा हो गया है।

बीटी कपास को लेकर लंबे समय से जारी विवाद में केंद्र सरकार ने कड़ा फैसला करते हुए पहली बार बीटी कपास के एक समान दाम तय कर दिए हैं। सरकार ने यह कदम कृषि मंत्रालय की ओर से गठित एक विशेषज्ञ समिति की सिफारिश पर उठाया है। इससे अस्सी लाख कपास किसानों को फायदा होगा। पहली अप्रैल से शुरू हो रहे कपास-वर्ष के लिए बीटी कपास के साढ़े चार सौ ग्राम पैकेट के लिए पूरे देश में आठ सौ रुपए कीमत तय कर दी गई है। अब तक किसानों को एक पैकेट पर साढ़े आठ सौ से हजार रुपए तक चुकाने पड़ते थे। इसके अलावा सरकार ने घरेलू बीज कंपनियों की ओर से मानसैंटों की दी जाने वाली रॉयल्टी में भी सत्तर फीसद तक कटौती कर दी है।

गौरतलब है कि भारत में मोनसैंटों महिको बायोटेक इंडिया (एमएमबीएल) तकरीबन पचास घरेलू बीज उत्पादक देशी कंपनियों को अपनी पेटेंट बोलगार्ड-2 कपास की किस्म बनाने की तकनीक रॉयल्टी लेकर देती है। देशी कंपनियां अरसे से इसका विरोध करती रही हैं क्योंकि उन्हें मोनसैंटों को जीएम तकनीक लेने के लिए पचास लाख रुपए की एकमुश्त राशि देनी पड़ती है और फिर हर पैकेट पर अलग से रॉयल्टी का भुगतान भी करना पड़ता है। अब भारत में एमएमबीएल को प्रति पैकेट सिर्फ उनचास रुपए की रॉयल्टी मिलेगी। फिलहाल रॉयल्टी की यह राशि टैक्स सहित 183 रुपए है।

सरकार के इस फैसले से मोनसैंटों की कितना नुकसान होगा इसका कोई आंकड़ा कंपनी ने नहीं जारी किया है। लेकिन राष्ट्रीय बीज संघ के मुताबिक मानसैंटों ने 2005-06 से 2014-15 के बीच भारत में केवल रॉयल्टी के जरिए 4479 करोड़ रुपए कमाए। यही कारण है कि मोनसैंटों भारत छोड़ने की धमकी दे रही है। उसका कहना है कि उसने बीटी कपास के बीज को अपने संसाधनों से कई वर्षों के शोध के बाद विकसित किया है।

बीटी कपास को लेकर मोनसैंटों व भारत सरकार के बीच छिड़े विवाद की आखिरी परिणति क्या होगी यह तो आने वाला वक्त ही बताएगा, लेकिन इसमें दो राय नहीं कि कृषि क्षेत्र की बहुराष्ट्रीय कंपनियों धीरे-धीरे खेती के मूल आधार (बीज) को अपने कब्जे में करती जा रही हैं। पेटेंट और बौद्धिक संपदा अधिकार इसके लिए सीढ़ी का काम कर रहे हैं। इससे जैव विविधता घट रही है और वैश्विक बीज कारोबार एक जगह पर सिमटता जा रहा है।

आज दुनिया की दस चोटी की एग्रीबिजनेस कंपनियां वैश्विक बीज बाजार के सड़सठ फीसद हिस्से पर कब्जा जमाए हुए हैं और इनका हिस्सा लगातार बढ़ता ही जा रहा है। ये सभी कंपनियां विकसित देशों की हैं। इतना ही नहीं, बौद्धिक संपदा अधिकार के जरिए हाइब्रिड प्रजाति के बीज तैयार करने के लिए जो शोध किया जा रहा है वह विकसित देशों के धनी किसानों की जरूरतों पर आधारित है। उष्ण कटिबंधीय फसलें इस शोध कार्य में पूरी तरह उपेक्षित हैं, जबकि इन फसलों से करोड़ों लघु व सीमांत किसानों की आजीविका जुड़ी हुई है। इन देशों के किसानों को बहुराष्ट्रीय कंपनियों के महंगे बीज खरीदने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है। दूसरे, इससे विविध फसलों के स्थान पर कुछेक चुनिंदा



फसलों की खेती को बढ़ावा मिल रहा है जिनकी अंतरराष्ट्रीय बाजार में भरपूर मांग है।

इस प्रक्रिया में पेट के लिए नहीं बल्कि बाजार के लिए खेती को बढ़ावा मिला। इससे गरीबों की खाद्य सुरक्षा नष्ट हुई और उन्हें बाजार के सहारे छोड़ दिया गया। तीसरे, बीज क्षेत्र में जो शोध कार्य हो रहे हैं उनमें विकासशील देश बहुराष्ट्रीय बायोटेक बीज कंपनियों के इशारे पर नाचने लगे हैं। उदाहरण के लिए, भारत के कृषि विश्वविद्यालय देसी बीजों के बजाय मोनसैंटों जैसी कंपनियों द्वारा चिह्नित फसलों पर शोध कार्य कर रहे हैं। यह स्थिति तब है जब भारत में दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा सार्वजनिक क्षेत्र का कृषि शोध-तंत्र मौजूद है। स्पष्ट है, बीज बाजार पर आधिपत्य जमाने के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों साम-दाम-दंड-भेद सभी हथकंडे अपना रही हैं।

जैसे-जैसे वाणिज्यिक बीज प्रणाली का आधिपत्य बढ़ रहा है वैसे-वैसे कृषि जैव विविधता खतरे में पड़ती जा रही है। एग्रीबिजनेस कंपनियां सभी पर एक जैसे उन्नत बीजों को अपनाते का दबाव बना रही हैं। वे अपनी कुटिल चाल में सफल भी होती जा रही हैं। उदाहरण के लिए, 1959 में श्रीलंका में करीब दो हजार

किस्मों के धान की खेती की जाती थी लेकिन आज वहां सौ से भी कम किस्में प्रचलन में हैं। इसी प्रकार स्थानीय धान की बांग्लादेश में बासठ फीसद व इंडोनेशिया में चौहत्तर फीसद किस्में सदा के लिए लुप्त हो गईं। भारतीय संदर्भ में देखें तो यहां पिछली आधी शताब्दी के दौरान विभिन्न फसलों की सूखा व बाढ़ रोधी हजारों किस्में गायब हो चुकी हैं।

स्थानीय किस्मों की उत्पादकता भले थोड़ी कम थी लेकिन ये मौसम की अतिशय दशाओं (बाढ़, सूखा, तापमान के उतार-चढ़ाव) को सफलतापूर्वक झेल लेती थीं। फिर इन्हें खरीदने के लिए किसानों को मोटी रकम भी नहीं चुकानी पड़ती थी। दूसरी ओर, बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उन्नत बीज स्थानीय

मिट्टी की गुणवत्ता में कमी, बदलते मौसम चक्र, आपदाओं में इजाफा, शहरीकरण आदि के चलते सभी को खाद्यान्न उपलब्ध कराना बड़ी चुनौती है। ऐसे में बहुराष्ट्रीय बीज कंपनियों पर निर्भरता खाद्य सुरक्षा के लिए घातक होगी। भारत सहित विकासशील देशों को चाहिए कि घरेलू अनुसंधान तंत्र को मजबूत बनाएं ताकि खेती की विविधता बनी रहे।

पारिस्थितिक दशाओं की उपेक्षा करके ऊपर से थोपे जाते हैं। इन्हें अत्यधिक पानी और रासायनिक खाद की जरूरत होती है। हालांकि इन बीजों से पैदावार बढ़ती है लेकिन अगली फसल के लिए बीज नहीं मिल पाते हैं जिससे किसान बीज कंपनियों के मोहताज बन जाते हैं। इस प्रकार महंगे बीज, उर्वरक और कीटनाशकों के चक्कर में किसान कर्ज के जाल में फंसते जाते हैं जो कई बार उन्हें फांसी के फंदे तक पहुंचा देता है।

दो दशक पहले अमेरिका में शुरू हुई और अब उन्तीस देशों में 1.78 अरब हेक्टेयर (4.4 अरब एकड़) में फैल चुकी जीएम फसलों को भले ही खाद्यान्न संकट, जलवायु परिवर्तन और मिट्टी अपरदन के समाधान के रूप में प्रस्तुत किया जाता हो लेकिन जमीनी सच्चाई यह है कि ये फसलें अपने दावों पर खरी नहीं उतरतीं। दूसरी चिंता की बात यह है कि इन बीजों के प्रचलन में आने के बाद कीटनाशकों, खरपतवारनाशकों के प्रयोग में आश्चर्यजनक रूप से तेजी आई, जबकि शुरू में कंपनियों ने दावा किया था कि इन बीजों के इस्तेमाल से कीटों व खरपतवार के प्रकोप में कमी आएगी।

जीएम तकनीक समर्थकों के दावों को भारतीय

परिस्थितियां भी आईना दिखा रही हैं। डेढ़ दशक पहले बड़े जोर-शोर से आमद दर्ज कराने वाली बीटी कपास की चमक फीकी पड़ने लगी है। कपड़ा मंत्रालय के अधीन कॉटन एडवायजरी बोर्ड (सीएबी) से जुटाए गए आंकड़ों के मुताबिक कपास की पैदावार में 2002 से 2006 के बीच की परिवर्तनकारी अवधि के बाद अब धीरे-धीरे गिरावट आनी शुरू हो गई है। जहां 2006-07 में इसकी पैदावार 554.3 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर थी वहीं 2012-13 में घट कर 489 किलोग्राम रह गई। इसलिए कि नवीनता के अभाव और जलवायु परिवर्तन के कारण कीटों का प्रकोप तेजी से बढ़ा है।

कपास की पैदावार में लगातार आ रही गिरावट के बावजूद कंपनियां बीटी कपास को चमत्कारी फसल बता रही हैं। उनके मुताबिक 2002 में 77 लाख हेक्टेयर कपास की खेती होती थी जो कि 2011-12 में 121 लाख हेक्टेयर हो गई। इस दौरान कपास का कुल उत्पादन 1.3 करोड़ गांठ से बढ़ कर 3.45 करोड़ गांठ हो गया जिससे भारत कपास का निर्यातक बन गया। कंपनियां इसका श्रेय बीटी कपास को देती हैं। लेकिन यदि कंपनियों के दावों का विश्लेषण किया जाए तो कुछ और कहानी सामने आती है। यह सच है कि बीटी कपास अपनाते के बाद पैदावार तेजी से बढ़ी, लेकिन उसके बाद इसमें गिरावट का दौर शुरू हो चुका है।

दरअसल, कपास उत्पादन में जो बढ़ोतरी हुई उसमें एक बड़ा योगदान कपास के अधीन बढ़े हुए रकबे का है। सबसे बड़ी बात यह है कि मोनसैंटों के बीटी कपास के प्रवेश के बाद से कपास की स्थानीय किस्में लुप्त हो गईं। इससे किसान महंगे हाइब्रिड बीज पर निर्भर हो गए जिन्हें खरीदने के लिए उन्हें हर साल मोटी रकम खर्च करनी पड़ती है। कंपनियां किसानों की मजबूरी का जमकर फायदा उठा रही हैं और बीटी के आने के बाद कपास बीज की कीमतें आठ सौ गुना तक बढ़ चुकी हैं।

फिर एक ही खेत में लगातार कपास की फसल लेने से न सिर्फ मिट्टी के पोषक तत्वों में कमी आ रही है बल्कि कीटों की प्रतिरोधक क्षमता भी बढ़ रही है। इसी का नतीजा है कि जैसे-जैसे फसल बर्बाद होने की घटनाएं बढ़ रही हैं वैसे-वैसे कीटनाशकों पर होने वाला खर्च भी बढ़ता जा रहा है जिससे किसानों की लागत कई गुना बढ़ गई है।

मिट्टी व पानी की गुणवत्ता में कमी, बदलते मौसम चक्र, कुदरती आपदाओं में इजाफा, शहरीकरण, बढ़ती क्रय क्षमता और खान-पान की आदतों में बदलाव आदि के चलते सभी को खाद्यान्न उपलब्ध कराना एक बड़ी चुनौती है। ऐसे में बहुराष्ट्रीय बीज कंपनियों पर निर्भरता खाद्य सुरक्षा के लिए घातक होगी। लिहाजा, भारत सहित विकासशील देशों को चाहिए कि वे बहुराष्ट्रीय बीज कंपनियों को नियंत्रित करने के साथ-साथ घरेलू अनुसंधान तंत्र को मजबूत बनाएं ताकि खेती व थाली की विविधता बनी रहे।

दीपक शर्मा
उभारी, समाचार प्रवृत्ति
लाहौर